इन दिनों मुंबई के सिनेमा हालों में फिल्म शुरू होने से पहले नए ढंग से गाया और फिल्माया गया राष्ट्र गीत दिखाया जा रहा है। एक मूक बधिर स्कूल के बच्चे अपनी संकेत भाषा में यह गीत प्रस्तुत करते हैं। पार्श्व में सिंफनी की तरह राष्ट्र धुन बजती है। एकाधिक मिनट का यह अनुभव बेहद मार्मिक है। जो बच्चे देखने सुनने की चुनौती का सामना करते हुए जीवन जी रहे हैं, वे देख सुन पाने वाले लोगों को राष्ट्र भावना की बौछार से सराबोर कर देते हैं।

मुंबई में प्राय: हाउसिंग सोसाइटियां स्वतंत्रता और गणतंत्र दिवस के आयोजन करती हैं। सरकारी स्तर पर होने वाले रस्मी और जबरदस्ती के कार्यक्रमों की तुलना में ये आयोजन सवैच्छिक और प्रेरणा-स्फूत होते हैं। लेकिन आखिरकार होते ये भी अनुष्ठान ही हैं। अपनी दैनंदिन रट में से निकल कर हम ये राष्ट्रीय यज्ञ करते हैं और उसके बाद फिर उसी रट में लग जाते हैं। जब कोई आंतरिक या बाहरी संकट आता है, किसी सामूहिक विपदा से हम घिर जाते हैं या प्रकृति की कोई चपेड़ पड़ती है, तब भी हमारे दिलों में सामूहिक भावना जाग उठती है और राष्ट्र प्रेम हमें शक्ति देने लगता है। इसी तरह जब हम मातृभूमि से बिछुड़ते हैं और लंबे समय तक उससे दूर रहते हैं तो मातृभूमि के प्रति हमारा मन आर्द्र हो जाता है। देश, प्रदेश और जातीय प्रेम हमें उसी तरह शक्ति देता है जिस तरह इतिहास और स्मृतियां हमारे वर्तमान को और भविष्य को सिंचित करती हैं।

हम सभी जानते हैं, हमारे कवियों में राष्ट्र के प्रति जो तड़प आजादी की लड़ाई के समय व्यक्त हुई है, वह आजादी पाने के बाद मानो समुद्री फेन की तरह सूख कर पथरा गई है। महमूद दरवेश की कविता में दिल की गहराइयों से हूक उठती है। तिब्बत के कवियों में अपने वतन के लिए अथाह वेदना है लेकिन में तिब्बत में पैदा नहीं हुए। तिब्बत उन्होंने कभी देखा नहीं। एक राष्ट्र उनके सपनों में है। हमारी आजादी की लड़ाई के दौर की तरह की ही आंदोलनधर्मी ज्वाला इस कविता में है। क्या यह मां बेटे के संबंधों जैसा मामला है कि जब तक मां सामने है, बच्चा भूला रहता है और जैसे ही मां ओझल हुई बच्चा असुरक्षित और असहाय होकर मां मां पुकार उठता है।

लेकिन मातृभूमि से दूरी और बिछोह, उसे पाने के संघर्ष या खो देने की स्थितियां आदर्श तो नहीं! न ही ये स्थितियां अंतिम हैं। अंतत: नागरिक को अपने समाज में रहना है। समाज में रहते हुए उसे राष्ट्र भावना को व्यवहार भावना में बदलना होगा। यानी वह नगर, कस्बा, गांव जहां भी रह रहा हो, उसे अपने कर्त्तव्यों को समझना होगा और अपने व्यवहार में उतारना होगा। उसे वैसा आचरण करना होगा जैसा एक सभ्य और राष्ट्र के प्रति समर्पित नागरिक से अपेक्षित होता है।

एक ही पहचान है

अब नहीं मिलते कहीं भी
पिघलते-से लोग
धड़कनों की थाप पर वे थिरकते-से लोग
वे खुले-से लोग, रसभोक्ता-से लोग
ख़ुशबूओं के पारखी वे कुशल गंधी लोग
जो समन्वित चेतना से अति सहज ही
कन्याकुमारी के नवोदित सूर्य-थालों में
सूँघते थे काश्मीरी गंध केशर की,
और कस्तूरी-मृगों के दूर पर्वत-प्रान्तरों से
देख लेते थे बँधा रामेश्वरम पर पुल।
क्या फलक था ! क्या परख थी !! क्या नज़र थी !!!
फ़ासलों को भाव-यानों से सहज में पाट लेते थे,
कि हर अलगाव को वे
सोच के व्यवहार से ही काट देते थे ।
सच, नहीं मिलते हमें वे लोग, वे पुलों-से लोग;
जी, बहुत नायाब हैं वे विश्व-दर्शक लोग,
राष्ट्रचिन्तक, राष्ट्रजीवी लोग -
राष्ट्र था पहचान जिन की,
और जिन से राष्ट्र पहचाना गया ।

अर्थ-खोजी उन रसज्ञों की जगह अब
एक सड़ियल बेसरोकारी
महज़ आलोचना में बोलती है,
स्वार्थ से सब नापती है, अहम् से सब तोलती है;
गोदरा से, अवधपुर से, गुलमरग से, मुम्बई से,
जहां से भी छिद्र मिलता है, वहीं से
रोज़ कोई ज़हर जल में घोलती है ।
पोथियों के, जातियों के, बोलियों के नाम पर वह
नफ़रतों को पालती है, आफ़तों को खोलती है ।

बंधुओ ! अंदाज़ उस का फ़लसफ़ाना है,
तर्क घटिया बूर्जवाना है,
कर्म छद्मों से भरा है, क़ातिलाना है,
चलन उस का भीड़ को पीछे चलाना है,
आदमी को रेत कर के शहर मरुस्थल बनाना है ।
वह तमिस्रा को हमारे सूर्य-मुखियों पर
स्वयं ही तानती है,
और फिर ख़बरें बनाती
कि उन्हें अंधा बनाया जा रहा है ।

तुम मगर उस के इरादों को कभी फलने न देना,
इन विषैली आँधियों को बेधड़क चलने न देना;
क्योंकि तुम इन से बड़े हो,
क्योंकि तुम इन से लड़े हो,
क्योंकि तुम टोपी नहीं हो,
क्योंकि तुम कुल्ला नहीं हो,
तुम महज़ वोटर नहीं हो
और कठमुल्ला नहीं हो ।

बस तुम्हारी एक ही पहचान है -
और वह व्यापक वतन है, जो कि शतरंगा वतन है,
उस वतन के एक गोशे में सुनहरा गाँव है
वह तुम्हारा गाँव है, वह हमारा गाँव है,
गाँव में पोखर किनारे पितर-पीपल है
जो तुम्हारी आत्मा को उस समूची आत्मा से जोड़ता है ।
उस समूची आत्मा की एक ही प्रतिबद्धता है;
और वह हर ज़हर को धिक्कारना है,
और वह अन्याय को ललकारना है ।

तुम जहां भी हो तुम्हें ट्रैक्टर चलाना है,
तुम्हें खेती उगाना है,
फिर पसीने से नवांकुर सींचना है ।

लेकिन कहने की जरूरत नहीं है कि हम ऐसे हैं नहीं। हम द्वैध के शाप से ग्रस्त हैं। हम धर्म कर्म, अध्यात्म दर्शन की दुहाई देते नहीं थकते; संतों बाबाओं के चरणों में लोट लोट कर नहीं अघाते, पर हमें अपनी पृथ्वी, पर्यावरण, मातृभूमि, देश की संपत्ति की रत्ती भर चिंता नहीं रहती। हम रटते हैं सर्वे भवंतु सुखिन: सवे संतु निरामय:, लेकिन भरते हैं सिर्फ अपना पेट और अपनी जेब। निजी हित के लिए कोई भी समझौता करने को तैयार, बिना किसी अपराध बोध के। क्या पर्यावरण और प्रकृति का सम्मान करना हमारे दैनिक जीवन का हिस्सा नहीं होना चाहिए? क्या हमें राष्ट्र प्रेम की भावना को अपने जीवन में ढालना नहीं होगा? अपने धार्मिक विचारों और श्रद्धा को कर्म में तब्दील नहीं करना होगा?

ये और इसी तरह के प्रश्न ओम अवस्थी की कविता उठाती है जिसे हम संपादकीय के हाशिए में दे रहे हैं। कविता आज वैसे भी जीवन के हाशिए पर ही पड़ी है। इसलिए इसे हाशिए पर ही पढ़िए। लेकिन ध्यान रहे, कागज पर लिखते समय हम हाशिए पर ऐसी बातें दर्ज कर लेते हैं जो जरूरी होती हैं, जिन्हें हम भूलने का खतरा मोल नहीं लेना चाहते। हम भी चाहते हैं कि समाज कविता को न भूले। कहते हैं न कि कविता या साहित्य व्यक्ति की चेतना का प्रहरी होता है। प्रहरी को अंग-संग ही रहना चाहिए।

इस अंक में हिमाचल-हिमालय और चीन की तरफ की यात्राएं हैं। यह एक तरह से यात्रा विशेषांक ही है। इस कारण कुछ नियमित स्तंभ हमें रोक लेने पड़े हैं। फिर भी कविता, कहानी, लोक संस्कृति, पहाड़ी कलम, आस्वाद और परख, कला परिक्रमा तो है ही। कला परिक्रमा में शिमला की संकल्प रंग मंडली की प्रस्तुति डॉ. फाउस्टस पर विशेष सामग्री है, साल भर की साहित्यिक सरगर्मियों का लेखा जोखा है। नाटक के चित्रों को कविता के पन्नों पर देकर एक तरह की जुगलबंदी का प्रयोग हमने किया है।

यह अंक फिर से अत्यधिक विलंब से छप रहा है। हमने यह पत्रिका समाज में सहभागिता के इरादे से शुरू की थी। साहित्यकारों के लिए साहित्यिक लघु पत्रिका निकालना हमारा मकसद नहीं था। हम समान सोच वाले लोगों को साथ लेकर चलना चाहते थे। उम्मीद थी कि कुछ लोग हमारे साथ आएंगे। पिछले अंक में मुंबई के पाठकों को हमने एक अपील भी भेजी थी। लेकिन उसकी जितनी ठंडी प्रतिक्रिया मिली, लगता है हमारी अपील में ही कुछ कमी रह गई है।